जैन धर्म में कर्म-सिद्धान्त

□ **साध्वीश्री जतनकुमारी**
(युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी की शिष्या)

आस्तिक दर्शनों की मूल भित्ति आत्मा है। जो आत्मा को नहीं जानता है, वह लोक, कर्म और क्रिया को भी नहीं जान सकता है; और जो आत्मा को जानता है, वह लोक, कर्म और क्रिया को भी जानता है।

क्रिया को स्वीकारने वाला कर्म को और कर्म को स्वीकारने वाला क्रिया को अवश्य स्वीकारता है। क्रिया की प्रतिक्रिया निश्चित है तब उसे अस्वीकारा भी नहीं जा सकता है, अपितु स्वीकार के लिए किसी न किसी शब्द को माध्यम बनाना होता है, चाहे उसे कुछ भी अभिधा दें।

दो सहजात शिशु एक साथ पले-पुसे। एक गोद में फले-फूले। पढ़े-लिखे। समान अंकों में उत्तीर्ण हुए। कालेजीय-जीवन की परिसमाप्ति के बाद व्यवसाय के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए।

पिता ने कर्म कौशल की परीक्षा के लिए दोनों को समान साधन-सामग्री दी। छोटे बेटे ने थोड़े ही दिनों में तरक्की कर ली और जन-जन का विश्वासपात्र बन गया किन्तु बेचारा बड़ा बेटा बहुत प्रयत्न करने पर भी व्यापार में उन्नति नहीं कर पाया।

राम नवमी के पुण्य-पर्व पर पिता ने दोनों के बहीखाते देखे। छोटे बेटे के बहीखाते लाखों का मुनाफा लिए हैं और बड़े बेटे के लाखों का कर्ज। पिता विस्मित सा सोचने लगा—तुल्य साधन-सामग्री और तुल्य-पुरुषार्थ, फिर भी यह वैषम्य !

इस वैषम्य का समाधान बहुत प्रयत्न के बाद इस आर्ष वाणी से मिला—

"जो तुल्ल साहणाणं फले विसेसो, ण सो विणाहेउं कज्जतण ओ गोयमा ! धडोव्व हेऊय सो कम्म।"

—विशेषावश्यक भाष्य

इस वैषम्य का मूलाधार कर्म है। यह कर्म ही पुरुषार्थ को सफल-विफल करता है तथा कर्म में वैचित्र्य भी लाता है।इसीलिए दो व्यक्तियों का वर्तमान में किया गया समान पुरुषार्थ भी, समान फल नहीं देता।

जब व्यक्ति का वर्तमान पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से निर्बल होता है, तब वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता और जब उसका वर्तमान पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है, तब उसे अन्यथा भी किया जा सकता है।

मनीषी मूर्धन्य भगवान् महावीर ने जीव-सिद्धान्त की तरह कर्म-सिद्धान्त का विवेचन आवश्यक समझा इसी। लिए उन्होंने अपने आगम ग्रन्थों में आत्म-प्रवाद की भाँति कर्म-प्रवाद को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। एक-एक प्रश्न का गहराई के साथ विश्लेषण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र, अपने अन्तेवासी शिष्य विन्ध्य को कर्म-प्रवाद का बन्धाधिकार पढ़ा रहे थे उसमें बन्धन के विश्लेषण के साथ कर्म के दो रूपों का वर्णन किया गया। कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भाँति आत्मा के साथ चिपक जाता है, एकरूप हो जाता है और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भाँति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है।

यह बात गोष्ठामाहिल ने भी सुनी। उसके मन में संशय हो गया कि आत्मा और कर्म का तादात्म्य होने से मुक्ति कैसे होगी ? इस सन्देह में ही उसने अपना सम्यग्दर्शन खो दिया। यह था कर्म-सिद्धान्त को नहीं समझने का परिणाम। प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य विषय है—'कर्म-सिद्धान्त'।

कर्म शब्द भारतीय दर्शन का बहु परिचित शब्द है फिर भी प्रत्येक दार्शनिक की व्याख्यात्म-शैली भिन्न-भिन्न रही है। किसी ने कर्म को क्रिया, प्रवृत्ति और वासना कहा तो किसी ने क्लेश और अदृष्ट कहकर अपनी लेखनी को विराम दिया। किन्तु जैन मनीषियों की लेखनी अविरल-गति से चलती रही इसीलिये उनकी उर्वर मेधा ने कर्म शब्द की व्याख्या में दार्शनिक रूप दिया और परिभाषा में सब दर्शनों से विलक्षण रूप दिया।

परिभाषा

यह दृश्य जगत् जड़-चेतन का संयुक्त रूप है। एक दूसरे से संचालित है। जीवात्मा को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में जड़ का सहारा लेना होता है और जड़ को अपनी अद्भुत क्षमता प्रदर्शन में जीव का। इसीलिए कर्म की परिभाषा यों की गई है—

"आत्मा-प्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्य पुद्गला: कर्म।"

जब तक जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है, तब तक वह अपनी प्रवृत्ति से पुद्गलों का आकर्षण करता है। वे आकृष्ट पुद्गल आत्मा के परिपार्श्व में अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। उन कार्मण वर्गणाओं को कर्म संज्ञा दी गई है। वे कर्म पुद्गल, चतु:स्पर्शी एवं अनन्त-प्रदेशी होते हैं।

जीव चेतन है। पुद्गल अचेतन है। इन दोनों में परस्पर सीधा सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध के लिए जीव को लेश्या का सहारा लेना होता है। लेश्या के सहारे पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। इसीलिए जब वह शुभ प्रवृत्ति में संलग्न रहता है, तब शुभ पुद्गल आत्मा से सम्बन्धित होते हैं, जो पुण्य कहलाते हैं और जब अशुभ-प्रवृत्ति में संलग्न रहता है, तब अशुभ पुद्गल आत्मा से सम्बन्धित होते हैं, जो पाप कहलाते हैं। जब ये पुण्य-पाप विभक्त किये जाते हैं, तब इनके आठ विभाग बन जाते हैं, जिन्हें अष्ट कर्म कहा गया है—

१. ज्ञानावरण—इससे ज्ञान आवृत होता है, इसलिए यह पाप है।

२. दर्शनावरण—इससे दर्शन आवृत होता है, इसलिये यह पाप है।

३. मोहनीय—इससे दृष्टि और चारित्र विकृत होते हैं, इसलिए यह पाप है।

४. अन्तराय—इससे आत्मा का वीर्य प्रतिहत होता है, इसलिए यह पाप है।

५. वेदनीय—यह सुख-दु:ख की वेदना का हेतु है, इसीलिये पुण्य भी है पाप भी है।

६. नाम—यह शुभ-अशुभ अभिव्यक्ति का हेतु बनता है, इसलिए पुण्य भी है और पाप भी है।

७. गोत्र—यह उच्च-नीच संयोगों का निमित्त बनता है, इसलिए पुण्य भी है और पाप भी है।

८. आयुष्य—यह शुभ-अशुभ जीवन का हेतु बनता है, इसलिए पुण्य भी है, पाप भी है।

जीव पुण्य पाप नहीं और पुद्गल भी पुण्य या पाप नहीं है। जीव और पुद्गलों का संयोग होने पर जो स्थिति बनती है, पुण्य या पाप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों की मुख्य अवस्थाएँ

जैन आगमों में स्थान-स्थान पर कर्मों की विविध अवस्थाओं का वर्णन है लेकिन अवस्थाओं की संख्या का क्रम भिन्न-भिन्न है। इस भिन्नत्व का कारण प्रतिपादन शैली में अपेक्षा दृष्टि है। इसीलिये विविध प्रसंगों में विविध रूप मिलते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में दस अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है—

१. **बन्ध**—जीव के असंख्य प्रदेश हैं। उनमें मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से कम्पन पैदा होता है। इस कम्पन के फलस्वरूप जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश है, उस क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल जीव के एक-एक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं। आत्म-प्रदेशों के साथ पुद्गलों का इस प्रकार चिपक जाना बन्ध है। यह आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। इसके चार विभाग हैं—(अ) प्रदेश, (ब) प्रकृति, (स) स्थिति और (द) अनुभाग।

(अ) प्रदेश बन्ध—ग्रहण के समय कर्मपुद्गल अविभाजित होते हैं और ग्रहण के पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं। यह प्रदेश बन्ध (एकीभाव की व्यवस्था) है।

(ब) प्रकृति बन्ध—कर्म परमाणु कार्यभेद के अनुसार आठ वर्गों में बँट जाते हैं। यह प्रकृति बन्ध (स्वभाव व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं-ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि।

(स) स्थिति बन्ध—सत्-असत्-प्रवृत्तियों द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों के कालमान का निर्धारण, यह स्थिति बन्ध (काल व्यवस्था) है।

(द) अनुभाग बन्ध—तीव्र या मन्द रस से बन्धे हुए कर्म पुद्गलों का विपाक निर्धारण, यह अनुभाग बन्ध (फल व्यवस्था) है।

बन्ध के चारों प्रकार एक ही साथ होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से प्रदेश-बन्ध सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है।

२. **उद्वर्तना**—कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण उद्वर्तना है। यह स्थिति एक नए पैसे के कर्जदार को हजारों रुपये का कर्जदार बनाने जैसी है।

३. **अपवर्तना**—कर्म-स्थिति का अल्पीकरण और रस का मन्दीकरण अपवर्तना है। यह स्थिति हजारों के कर्जदार को एक नए पैसे से मुक्त बनाने जैसी है। इससे शम, दम, उपशम की सार्थकता सिद्ध होती है। अन्यथा भगवती सूत्र में कष्ट-सहिष्णुता से पूर्वसंचित कर्मों के विलीनीकरण के लिए दिये गये—"जाज्वल्यमान अग्नि में सूखा तृण[1] और तपे हुए तवे पर जल-बिन्दु[2] जैसे प्रतीकों की, कर्मों के साथ संगति नहीं बैठ सकती।

उत्तराध्ययन का निम्नोक्त प्रसंग भी इसी ओर संकेत करता है—

"भन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव क्या प्राप्त करता है?"

भगवान ने फरमाया—

"अनुप्रेक्षा से वह आयुष्-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ-बन्धन से बँधी हुई प्रकृतियों को शिथिल बन्धन वाली कर देता है, उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन कर देता है, उनके तीव्र अनुभव को मन्द

---

१. से जहा नामए केइ पुरिसे सुक्कतण हत्थयं जाय तेयंसि पक्खिवेज्जा से नूणं गोयमा ! से सुक्के तण हत्थए·······
—भ०श० ६, उ० १.

२. से जहा नामए केइ पुरिसे तयंसि अयकवल्लंसि उदगबिन्दू जाव हंता विद्धं समागच्छइ—एवामेव···········
—भ० श० ६, उ० १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर देता है, उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है।"[1] इस प्रकार कर्म की स्थिति एवं रस का परिवर्तन अपवर्तना से ही संभावित है।

४. **सत्ता**—कर्म बन्ध के बाद जितने समय तक उदय में नहीं आता, उस काल को अबाधा काल कहा जाता है। अबाधा काल एवं विद्यमानता का नाम सत्ता है। यह स्थिति शान्त सागर की सी है अथवा अरणि की लकड़ी में आग जैसी है।

५. **उदय**—बँधे हुए कर्म-पुद्गल जब अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक प्रगट होने लगते हैं। उन निषेकों का प्रगटीकरण ही उदय है। वह दो प्रकार का है—जिसके फल का अनुभव होता है, वह विपाकोदय और जिसका केवल आत्मप्रदेशों में ही अनुभव होता है वह प्रदेशोदय कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! किये हुए कर्म भोगे बिना नहीं छूटते, क्या यह सच है?

भगवान्—हाँ, गौतम! यह सच है।

गौतम—कैसे? भगवन्!

भगवान्—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। जो प्रदेश कर्म हैं, वे अवश्य ही भोगे जाते हैं। जो अनुभाग कर्म हैं, वे विपाक रूप में भोगे भी जाते हैं और नहीं भी भोगे जाते।

प्रदेशोदय से आत्मा को सुख-दुःख की स्पष्ट अनुभूति नहीं होती और न ही सुख-दुःख का स्पष्ट संवेदन। क्लोरोफार्म चेतना से शून्य किये हुए शरीर के अवयवों को काट देने पर व्यक्ति को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती वसे ही यह स्थिति है।

विपाकोदय से आत्मा को सुख-दुःख की स्पष्ट अनुभूति एवं संवेदना होती है। यह स्थिति फूल-शूल के स्पर्श का स्पष्ट अनुभव लिए होती है। कर्मपरमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से प्रभावित होकर विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो, जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है—

दव्वं, खेत्त, कालो, भवो य, भावो य हेयवो पंच।
हेउ समासेण उदयो, जाय इसव्वाण पगईणं ॥ —पं०सं

उदाहरणार्थ—जैसे, एक व्यक्ति खटाई खाता है, तत्काल उसे आम्लपित्त की बीमारी हो जाती है, यह द्रव्य-सम्बन्धी विपाक है। एक व्यक्ति छांह से धूप में जाता है, तत्काल उसके शरीर में उष्मा पैदा हो जाती है, यह क्षेत्र-सम्बन्धी विपाक है। एक व्यक्ति सर्दी में छत पर सोता है, उसे बुखार हो जाता है, यह काल-सम्बन्धी विपाक है, इसी प्रकार भाव, भव सम्बन्धी विपाकोदय समझना चाहिए।

कर्म का परिपाक, डाल पर पककर टूटने वाले और प्रयत्न से पकाये जाने वाले फल की तरह है। जो फल सहज गति से पकता है उसके परिपाक में अधिक समय लगता है और जो प्रयत्न से पकता है उसको कम।

यद्यपि भगवान बुद्ध ने जैनों की तरह कर्म-सिद्धान्त की अवगति के लिए कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ का गुम्फन नहीं किया और न विशद-विश्लेषण। फिर भी त्रिपिटक तथा तत्सम्बन्धी व्याख्यात्मक ग्रन्थों से कर्म-चर्चा यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। विपाकोदय के विषय में भगवान बुद्ध का अभिमत उनके एक जीवन प्रसंग से समझिये—

---

१. अणुप्पेहाएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

—उ० अ० २६, सूत्र २२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान बुद्ध भिक्षा के लिए जा रहे थे, चलते-चलते पैर में कांटा चुभ गया और चुभने के साथ उनके मुंह से निकल पड़ा—

इत एकनवतेः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्म विपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ?॥

आयुष्मन्तो ! आज से एकाणवे भव पहले एक व्यक्ति पर आक्रोश से वार किया था और उसे मार भी दिया था। उसके फलस्वरूप आज मेरे पैर में कांटा लगा है।

वेद, पुराण, उपनिषद्, संहिता एवं स्मृति ग्रन्थों में भी कर्मोदय की सूचक अनेक घटनावलियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में उल्लिखित गान्धारी के सौ पुत्रों के वियोग की परिचर्चा भी कर्म-सिद्धान्त की स्वीकृति का पुष्ट प्रमाण है।

जाति, लिंग और रंग के भेद को लेकर होने वाले द्वन्द्व, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा को लेकर होने वाला विवाद, नक्सल-पंथियों और समाजवादियों के बीच चलने वाला विद्रोह, स्पर्धा, ईर्ष्या और ज्वलन जैसी कुत्सित प्रवृत्तियाँ कर्म-विपाक को नहीं पहचानने का ही परिणाम है।

पुण्योदय एवं पापोदय को समझने वाला व्यक्ति, कभी भी किसी भी स्थिति में ईर्ष्या, स्पर्धा और संघर्ष जैसी घृणित प्रवृत्तियाँ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका विवेक जागृत है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ, सो तस फल चाखा ॥ (गोस्वामी तुलसीदास जी)

६. **उदीरणा**—कर्म स्थिति का निश्चित समय से पूर्व उदय में आना उदीरणा है। बँधे हुए कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) दलिक और (२) निकाचित। दलिक-कर्म मन्द अध्यवसाय एवं अल्पकषायजनित होते हैं इसीलिए वे खून भरे वस्त्र की भाँति सुधोततर होते हैं। खून का दाग, सोड़ा, सर्फ और साबुन से तत्काल मिट सकता है इसी प्रकार दलिक कर्मों का दाग भी तप, जप के स्वल्प प्रयत्न से मिट सकता है।

निकाचित-कर्म तीव्र अध्यवसाय एवं तीव्र कषायजनित होते हैं, इसलिए वे जंग लगे हुए वस्त्र की तरह दुधोततर होते हैं। जंग का दाग सोड़े और साबुन से नहीं मिट सकता है। इसी प्रकार निकाचित-कर्मों का दाग भी।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव, कर्म के अधीन रहता है। किन्तु दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव प्रबल पुरुषार्थ के साथ प्रयत्न करता है, वहाँ कर्म उनके अधीन होता है। उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय में लाकर तोड़ डालना उसकी स्थिति एवं रस को मन्द कर देना, यह सब इसी स्थिति में हो सकता है।

पातंजल भाष्य में अदृष्ट-जन्य वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ बतलाई हैं उनमें भी कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित आदि से नष्ट हो जाते हैं। इसमें भी जैनसम्मत उदीरणा तत्त्व की सिद्धि होती है।

७. **संक्रमणा**—सजातीय-कर्म प्रकृतियों का परस्पर में परिवर्तन संक्रमणा है। जीव जिस अध्यवसाय से कर्म-प्रकृति का बन्धन करता है, उसकी तीव्रता के कारण, वह पूर्वबद्ध सजातीय-प्रकृति के दलिकों को बध्यमान-प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है। तब अशुभ रूप में बँधे हुए कर्म शुभ रूप में और शुभ रूप में बँधे हुए कर्म अशुभ रूप में उदित होते हैं।

कर्म के बन्ध और उदय में यह जो अन्तर माना है उसका कारण संक्रमण (बध्यमानकर्म में कर्मान्तिर का प्रवेश) है।

शुभकर्म शुभ फलदायक और अशुभकर्म अशुभ फलदायक होते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णा फला हवन्ति।
दुचिण्णा कम्मा, दुचिण्णा फला हवन्ति॥

इस आगम-वाक्य की संक्रमणा के साथ संगति नहीं बैठ सकती। इसकी संगति के लिए निकाचना का सहारा लेना होता है।

यह परिवर्तन का सिद्धान्त अनुदित कर्मों के साथ लागू होता है, उदित के साथ नहीं। क्योंकि उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय में कोई अन्तर नहीं आता।

संक्रमणा ही पुरुषार्थ के सिद्धान्त का ध्रुव आधार हो सकता है। संक्रमणा के अभाव में पुरुषार्थ का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। इसके स्थान पर कोरा नियतिवाद ही होता।

संक्रमणा की स्थिति हाइड्रोजन गैस से आक्सीजन और आक्सीजन से हाइड्रोजन गैस का परिवर्तन जैसी है।

८. **उपशम**—मोहकर्म की सर्वथा अनुदयावस्था उपशम है। इसमे प्रदेशोदय एवं विपाकोदय का अभाव रहता है। यह स्थिति पूर्ण विराम के जैसी है। उपशम स्थिति में उदय, उदीरणा, निधत्ति एवं निकाचना का सर्वथा अभाव होता है।

९. **निधत्ति**—उद्वर्तन, अपवर्तन के अतिरिक्त शेष छह करणों की अयोग्य अवस्था निधत्ति है। इसमें कर्म की वृद्धि एवं ह्रास को अवकाश रहता है। यह स्थिति तृण वनस्पति जैसी है। जो वर्षा ऋतु में बढ़ती है और वर्षा अभाव में घटती है।

१०. **निकाचना**—शुभकर्म का शुभ और अशुभकर्म का अशुभ फल निश्चय, निकाचना है। इसमें कर्मों का परिवर्तन, परिवर्धन एवं अल्पीकरण कुछ भी नहीं होता और न यहाँ पुरुषार्थ की तूती बजती है। यह स्थिति गोदरेज के ताले की सी है, जो दूसरी चाबियों से खुल नहीं सकता। इसी प्रकार निकाचित कर्म भी प्रयत्न से नहीं टूटते।

अन्य दर्शनों में भी कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। वे क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं।

बँधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बँधते हैं उसी रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा। धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? इत्यादि प्रश्नों का समाधान कर्मों की अवस्थाओं को समझने के बाद अपने आप मिल जाता है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है।

अनादि काल से ही कर्म-आवृत संसारी आत्माएँ कथंचित् मूर्त हैं अतः उसके साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होना असम्भव नहीं है। जीव और कर्म का अपश्चानुपूर्वी सम्बन्ध चला आ रहा है।

जीव और आत्मा का अनादि सम्बन्ध है तब आत्मा और कर्म पृथक् कैसे हो सकते हैं, ऐसा सन्देह भी नहीं करना चाहिए। अनादि संबद्ध धातु एवं मिट्टी, अग्नि आदि उचित साधनों द्वारा पृथक् होते हैं, तब आत्मा और कर्म के पृथक्करण का संशय ही कैसा?

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने गौतमादि श्रमणों से पूछा—(दुक्खे केण कडे) दुःख पैदा किसने किया? उत्तर देने के लिए सब श्रमणवृन्द मौन था—प्रभु से ही समाधान पाने के लिए उत्सुक था। संशय और जिज्ञासाओं से मन भरा हुआ था। भगवान् ने कहा (जीवेण कडे पमाएण) स्वयं आत्मा ने ही दुःख उत्पन्न किये हैं।

गौतम ने कहा—दुःख पैदाकर आत्मा ने अपना अनिष्ट क्यों किया?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् ने कहा—प्रमादवश। प्रमत्त व्यक्ति सुरापान किये हुए मनुष्य की तरह बेभान होता है। उसे कर्त्तव्य का बोध नहीं होता। ऐसी स्थिति में अपना अहित अपने हाथों कर लेता है। इसीलिए मैंने कहा दुःख आत्मा-कृत ही है, परकृत एवं तदुभयकृत नहीं।

आचार्य भिक्षु ने भी अपनी राजस्थानी कविता में इस प्रश्न को इस प्रकार से समाहित किया है—

जीव खोया खोटा कर्त्तव्य करे, जब पुद्गल लागे ताम।
ते उदय आयां दुःख ऊपजै, ते आप कमाया काम॥

फल-प्रक्रिया

कर्म जड़ है। तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? इसका समाधान स्पष्ट है—विष और अमृत को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी खाने वाले को परिपाक होते ही इष्ट-अनिष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। उसी प्रकार कर्म-पुद्गल भी जीवात्मा को सुख-दुःखात्मक फल देने में सक्षम हो जाते हैं। कर्म-फल की व्यवस्था के लिए ईश्वर को माध्यम बनाने की कोई जरूरत नहीं रहती।

आज के इस अणुयुग में विज्ञान के क्षेत्र में अणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान की शक्ति के बारे में सन्देह हो ही नहीं सकता।

यद्यपि कर्म-पुद्गल सूक्ष्म हैं। फिर भी उनसे ऐसे रहस्यपूर्ण कार्य घटित होते हैं, जिनकी सामान्य बुद्धि व्याख्या ही नहीं कर सकती, किन्तु उनके अस्तित्व को किसी भी हालत में नकारा नहीं जा सकता।

□

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।

मनुष्यों को बोध प्राप्त करना चाहिए और बन्धन को जानकर उसे तोड़ना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org